यूरोपीय भाषा चिंतन और भारत

विजय कुमार*

प्रस्तुत निबंध में भाषा और मानविकी संबंध आधुनिक चितंन को संक्षेप में रखा गया है। उसकी तुलना भारतीय शास्त्रीय चितंन से भी की गई है। उसकी भारत के प्रसिद्ध प्राचीन ग्रंथों में भाषा पर जो चिंतन मिलता है, उसका आधुनिक यूरोपीय सिद्धांतों पर अप्रत्यक्ष किंतु गहरा प्रभाव पड़ा है। विख्यात भाषा विज्ञानी फर्डीनेंड सास्युअर संस्कृत के गंभीर अध्येता थे। उनके विचारों पर इसका प्रत्यक्ष प्रभाव झलकता है। सास्युअर के चितंन ने शब्द, अर्थ, भाषा, मनुष्य की विचार प्रक्रिया, साहित्य लेखन, आदि विषयों पर गंभीर प्रभाव डाला। इससे संकेत मिलता है कि भारतीय शास्त्रों का अध्ययन शैक्षिक दृष्टि से आज भी मूल्यवान है। तभी हम नए-नए यूरोपीय सिद्धांतों, विचारों आदि का भी सम्यक मूल्याँकन कर सकेंगे।

पिछले कुछ दशकों में साहित्य संसार में अनेक परिवर्तन घटित हुए हैं। प्रचलित साहित्यिक विचारों एवं विद्वानों का जिस वैश्विक चुनौती से सामना हुआ है, उसकी अवज्ञा संभव नहीं है। न केवल भाषा और साहित्य की प्रकृति से संबंध में बल्कि इस पर भी कि मानवीय मस्तिष्क वस्तुओं को किस प्रकार देखता है और यथार्थ का बोध किस प्रकार होता है। किसी समाज की संस्कृति में किस प्रकार विचारों का आदान-प्रदान होता है। साहित्यिक पाठक की भूमिका तथा पठन प्रक्रिया के संबंध में जो मौलिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किए गए वह 20वीं शताब्दी के साठोत्तरी दशक में चर्चा के केंद्र रहे हैं। इधर संरचनावाद, विरचनावाद, संकेत विज्ञान, शैली विज्ञान आदि के कारण सैद्धांतिकी में भारी परिवर्तन हुए हैं। इसने न केवल अर्थ के दर्शन का नया मार्ग खोला है, बल्कि भाषा, जीवन, स्वत्व, मानस बोध, आत्मपरकता, वैचारिकी, साहित्य एवं संस्कृति के बारे में सोचने के कई आधार बदल दिए हैं।

*स्नातकोत्तर राजनीति विज्ञान विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया, (बिहार).

वैसे मानवीय चिंतन में कोई भी पड़ाव अंतिम नहीं होता है। सच्चाई की व्याख्याएँ भी बदलती रहती हैं। प्रत्येक वैमुख्य किसी पूर्वधारणा से वैमुख्य होता है। जिस तरह आज की नई विचारणा का मौजूदा वैमुख्य विगत की वैचारिक अभिवृत्तियों से है, उसी तरह भविष्य का वैमुख्य वर्तमान सैद्धांतिकी से होगा। काल प्रवाहमान स्रोतस्विनी की तरह है, कोई चाहे भी तो एक ही नदी में दो बार कदम नहीं रख सकता। जो भी हो, हमें अभी इस बात की भी जाँच करनी चाहिए कि पश्चिम की खोज पूर्व के चिंतन से किस अर्थ में भिन्न है? साथ ही, पश्चिम की जो खोज आज विश्वव्यापी मानी जाती है, उसकी वास्तविकता क्या है? यहाँ उसका एक सांकेतिक चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास भर है, न कि कोई सर्वांगीण विमर्श।

इस संदर्भ में प्रथम बात तो यह है कि अनुभववाद और प्रत्ययवाद के उन आधारों एवं अवधारणाओं, जिन पर विश्व और भाषा के संबंध में कई अवधारणाएँ स्थापित हुई, उन्हें चुनौती देने का श्रेय आधुनिक भाषिकी को ही प्राप्त है, न कि दर्शन की किसी शाखा को। इन धारणाओं को सर्वप्रथम पश्चिम में प्रस्तुत करने का श्रेय फर्डीनेंड डी. सास्युअर (1857–1913) को है। वे एक स्विस भाषा–विज्ञानी थे। उनके विचारों पर आधृत भाषिकी से जिस आधारभूत सिद्धांत का जन्म हुआ उसे संरचनावाद कहा जाता है। 21 वर्ष की आयु में सास्युअर ने इंडो–यूरोपीय स्वरतंत्र पर अपना एक मात्र आलेख प्रकाशित किया और 1880 में संस्कृत व्याकरण पर डॉक्टरेट ली। बाद में वे पैरिस और जेनेवा में संस्कृत और भाषा–विज्ञान पढ़ाते रहे। उन्होंने अपने जीवन के अंतिम पाँच–छः वर्षों (1907–11) में जेनेवा विश्वविद्यालय में कई व्याख्यान दिये। 1912 की गर्मियों में वह बीमार पड़े और 56 वर्ष की आयु में ही उनका देहांत हो गया। उसके दो वर्ष बाद उनके शिष्यों के नोट्स की सहायता से उनके दो साथियों ने *Course de Linguistique Generale* नामक ग्रंथ प्रकाशित किया। इसका अँग्रेज़ी अनुवाद 1959 में प्रकाशित हुआ।

भाषा के संबंध में सास्युअर के विचार इस कदर परिवर्तनकारी और क्रांतिकारी थे कि भाषिकी चिंतन पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा। अनंतर यही संरचनावाद और उत्तर–संरचनावाद का आधार सिद्ध हुए। संरचनावादी चिंतन का स्रोत भाषिक मॉडल है, जिसने अपना बौद्धिक उद्दीपन मूलतः सास्युअर, रूसी मूल के रोमान याकब्सन, रूसी स्वर विज्ञानी एन. त्रुबेत्सकोय तथा फ्रांसीसी नृतत्वशास्त्रवेत्ता लेविस स्ट्रास से प्राप्त किया। सास्युअर के युग तक यह अवधारणा थी कि दुनिया स्वतंत्र अस्तित्व रखने वाली चीजों से संरक्षित है तथा इन चीजों की वस्तुनिष्ठ परिभाषा एवं वर्गीकरण संभव है। यथार्थ की इस अवधारणा के प्रभाव में भाषा के संबध में सामान्य रवैया यह था कि भाषा ऐसे शब्दों का संग्रह है, जो अलग–अलग अर्थ रखते हैं और जिनकी स्वतंत्र परिभाषा संभव है। सास्युअर ने शताब्दियों से चली आ रही इस अवधारणा का मूलोच्छेद कर दिया कि भाषा कोई तात्विक वस्तु है। इसके स्थान पर सास्युअर ने भाषा की संबंधात्मक परिकल्पना प्रस्तुत की।

उनका सर्वाधिक क्रांतिकारी प्रयास यह दृष्टिकोण था कि भाषा वस्तुओं को मात्र नाम देने वाला तंत्र

नहीं है बल्कि भाषा विभेदों का तंत्र है। भाषा का कार्य वस्तुओं के नामकरण की बजाए उनकी अवधारणाओं में विभेद के संबंध के माध्यम से उसकी पहचान स्थापित करना है। भाषा का अध्ययन उन संबंधों के आलोक में करना चाहिए जिनके कारण भाषा के अवयव परस्पर संबंध रखते हैं और क्रियान्वित होते हैं। यानी भाषा का अध्ययन विन्यस्त ऐकिक तंत्र के रूप में किया जाना चाहिए। चूँकि भाषा का अध्ययन उपस्थित समय के स्तर पर संभव है जिसे ही समकालीन अध्ययन कहा जाता है। यह उन दिनों के सामान्य चलन ऐतिहासिक दृष्टि से भिन्न था।

मार्क्सवादी चिंतक फ्रेडरिक जेम्सन का कहना है कि सास्युअर की अप्रतिम मेधा का अनुमान उसके इस आग्रह से होता है कि भाषा का समस्त तंत्र प्रत्येक क्षण में संपूर्ण है, चाहे एक क्षण पूर्व ही उस में कोई परिवर्तन हुआ हो। भाषा के ऐतिहासिक विकास से स्वतंत्र, भाषा समय के हरेक क्षण में एक संपूर्ण तंत्र रखती है जिसके अनुसार वह हर समय बोली और समझी जाती है। और इस तथ्य से भी निरपेक्ष की भाषा बोलने वाला भाषा के पूर्व इतिहास का या ऐतिहासिक परिवर्तनों का ज्ञान रखता हो या न रखता हो।

सास्युअर भाषा के कार्य को समझाने के लिए भाषा की संकल्पना दो प्रकार से करता है। एक को वह *लांग* (भाषा) कहता है, दूसरे को पारोल (वाक्)। इन दोनों में सास्युअर ने जो द्वंद्वात्मक संबंध स्थापित किया, वह बुनियादी महत्त्व रखता है। अनंतर वह आधुनिक भाषिकी के विकास में सामान्य रूप से संरचनावाद की उन्नति में विशेष सहायक सिद्ध हुआ। उसकी दृष्टि में भाषा और वाक् में अंतर यह है कि भाषा का संपूर्ण तंत्र जो भाषा के किसी वास्तविक उदाहरण से पूर्व मौजूद है, *लांग* है और बोली जाने वाली अवधारणा वाक् यानी पारोल है। जो भाषा के संपूर्ण तंत्र के बिना अस्तित्व में नहीं आ सकती और उसके अन्दर रचित होती है। *लांग* की अवधारणा समाज में रची-बसी हुई है। जिसका समाज में भाषा के सभी बोलने वाले अवचेतन रूप से ही काम लेते हैं और उसके बगैर कोई भी भाषा नहीं बोली जा सकती। *लांग* भाषा का अमूर्त तंत्र है, पारोल उसका व्यक्तिगत रूप जो किसी एक भाषा को बोलने वाले व्यक्ति के भाषा व्यवहार में व्यक्त होता है। इन दोनों का भेद सास्युअर के भाषा चिंतन का मूल है और उसका परिणाम दूरगामी।

लांग से न्यूनाधिक वह धारणा अभिव्यक्त होती है जिसे सामान्य बोलचाल में भाषा कहते हैं अर्थात भाषा के व्याकरण तथा परम्परा की वह समग्र अमूर्त अवधारणा, जिसके अनुसार हम किसी भाषाई समाज में संप्रेषण का कार्य करते हैं। जबकि पारोल दैनंदिन भाषा व्यापार है। सास्युअर ने इसे शतरंज के उदाहरण से समझाया। कोई भी बाजी शतरंज के सभी नियमों का उपयोग नहीं करती, लेकिन प्रत्येक चाल संभव ही इसीलिए होती है कि शतरंज के समस्त नियमों के अधीन है। खेल के नियम अपना संपूर्ण तंत्र रखते हैं, जो अमूर्त रूप में मौजूद है और कोई भी चाल उस समस्त तंत्र के अनुसार ही चली जा सकती है। शतरंज के खेल का पूरा तंत्र *लांग* के समरूप है, तथा उसकी प्रत्येक चाल पारोल है। एक अमूर्त तंत्र है, दूसरी प्रत्यक्ष घटना।

इस वास्तविकता के ज्ञान ने कि भाषा एक अमूर्त तंत्र है, जो किसी एक स्थान पर पूर्णतया

दृष्टिगत नहीं होता किंतु वैयक्तिक व्यवहार में थोड़ा-बहुत व्यक्त होता रहता है, आधुनिक भाषिकी के आगामी यात्रापथ का निर्धारण कर दिया। इस तरह चार्ल्स प्रीज के अनुसार सास्युअर ने शब्दों के माध्यम से समझे जाने वाले शब्द-केंद्रित चिंतन की भाषागत अवधारणा को सदा के लिए बदलकर रख दिया। उसका स्थान भाषा की संबंधात्मक एवं संरचनात्मक अवधारणा ने ले लिया। यदि भाषा में किसी अवयव का कोई महत्त्व नहीं, और जो महत्त्व स्थापित होता है वह उस संबंध के अनुसार जो किसी अवयव का भाषा में दूसरे अवयवों से है, तो भाषा के बारे में सोचने का नज़रिया ही बदल जाता है।

यदि ध्वनियों के मूलभूत ध्वन्यात्मक स्तर के बारे में विचार करें तो सामान्यत: विभिन्न प्रकार की ऊँची-नीची ध्वनियाँ सुनाई देती हैं। यदि इन ध्वनियों को भाषा के अवयव के रूप में मानें तो ज्ञात होगा कि जो चीज उन्हें सार्थक बनाती है, वह उनमें और दूसरी आवाजों में विभेद का संबंध है, न कि नि:सर्ग का। उनमें कोई विशेषता है। अर्थात् भाषा की ध्वनियाँ निरपेक्ष नहीं, सापेक्ष हैं। इसमें परस्पर विभेद विरोधों के तंत्र को स्थापित करता है। फलत: भाषा की ध्वन्यात्मक संरचना उन विशिष्ट ध्वनियों से गृहीत है जो अपने संबंधों के साथ अर्थ के अंतर को प्रकट करती हैं।

इस प्रकार एक ध्वनि दूसरी ध्वनि से अपने विभेदों के कारण आपस में संबंधित होकर अर्थोत्पत्ति में सहायक होती हैं। सास्युअर के अनुसार किसी भाषा के पास न ऐसी ध्वनियाँ हैं, न ऐसे तत्व जो उसके भाषिक तंत्र के पूर्वगामी हों। भाषा में मात्र ध्वन्यात्मक विरोध और अवधारणाएँ हैं जो उसके अपने तंत्र के अनुसार प्रभावकारी हैं। अत: भाषा एक रूप है, पदार्थ या वस्तु नहीं। यह वह संरचना है जिसकी अपनी विधियाँ हैं। भाषा की इस प्रणाली की दो विशेषताएँ हैं। प्रथमत: यह यादृच्छिक (Arbitrary) और स्वायत्त है। दूसरे, यह विन्यस्त (Systematic) है। स्वायत्त इसलिए कि यह आत्मनिर्भर है, इसका स्वयं अपना औचित्य है। यदि इस तथ्य के विरुद्ध अपील करना चाहें कि जाल/चाल का अंतर क्यों अर्थपूर्ण है और वेदना/वहना में अंतर सार्थक क्यों नहीं है, तो भाषा से इतर कोई बाह्य शक्ति इसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकती। भाषा में जो भी होता है वह उसके अपने नियमों के अनुसार होता है।

दूसरे भाषा विन्यस्त है अर्थात जिन संबंधों और सिद्धांतों के तंत्र पर यह स्थापित है, वे निश्चित हैं। भाषा की संरचना के अनुसार भाषा के प्रत्येक अवयव की स्थिति निर्धारित है। इस प्रकार भाषा संरचना पर आधारित है। उसका तंत्र संरचनात्मक है। सास्युअर के विचार से भाषा केवल शब्दों के माध्यम से क्रियान्वित नहीं होती। भाषा संकेत तंत्र के आलोक में कार्य करती है, शब्द जिसका दृष्टिगत हिस्सा मात्र है। यह संकेत तंत्र अमूर्त है तथा भाषिकी का कार्य इस तंत्र के सिद्धांतों एवं सूत्रों की खोज करना अर्थात भाषा की संपूर्ण संरचना का पता लगाना है।

भाषा के इन संकेतों को इस दोहरे संबंध की सहायता से समझा जा सकता है जो ध्वन्यात्मक बिंब और अवधारणा के मध्य है। संकेत इन दोनों के समूह हैं। सास्युअर ने संकेत के इस दोहरे संबंध को सिग्निफायर और सिग्निफाएड का नाम

दिया है। अर्थात् ध्वन्यात्मक बिंब संकेतक है और अवधारणा संकेतित। शब्द 'वृक्ष' के ध्वन्यात्मक बिंब और वृक्ष की अवधारणा में जो संरचनात्मक संबंध है, वह भाषिक संकेत को निर्मित करता है। यह शब्द वृक्ष की ध्वनियों और उसकी अवधारणा तथा उस वास्तविक वृक्ष जो धरती से उगता है, जिससे और पत्ते होते हैं, कोई नैसर्गिक संबंध नहीं है। शब्द 'वृक्ष' या उसकी किसी की ध्वनि में पेड़ की कोई विशेषता नहीं है। और न ही इस शब्द की अवधारणा किसी बाह्य शक्ति के निर्देशानुसार निर्धारित हुई है। वृक्ष को यह अर्थ भाषा संरचना ने दिया है। यह संरचना स्वयं को निर्मित करने और स्थापित करने वाली विधियों का समूह है। ये विधियाँ आवश्यकता के अनुसार वाक्यों तथा उनके रूपांतरणों की रचना करती है।

सामान्यत: अनुभव होता है कि शब्द 'वृक्ष' एक लेबल है, जो स्थायी रूप से स्थापित है तथा जिस पर कोई समस्यामूलक प्रश्न नहीं उछाला जा सकता। सास्युअर ने इसे चुनौती दी। उसके विचार में यदि शब्द पहले से ही उपस्थित अवधारणाओं हेतु स्थापित होते तो एक भाषा से दूसरी भाषा में उनके अर्थ पर्याय होते, लेकिन ऐसा नहीं है। वास्तविकता यह है कि विभिन्न भाषाएँ वस्तुओं को विभिन्न रूप से देखती और प्रकट करती हैं। सास्युअर ने इसके कई दृष्टांत दिए हैं। फ्रांसीसी में mouton शब्द है। इसके विपरीत अँग्रेज़ी उसके पर्याय mutton और sheep में अंतर करती है। जोनाथन कूलर ने उदाहरण दिया है कि अँग्रेज़ी में रिवर और स्ट्रीम में अंतर है, उसी प्रकार फ्रांसीसी में fleuve और riviere में अंतर है। फ्रांसीसी में बड़े और छोटे के अंतर की बजाए fleuve समुद्र में गिरता है और riviere दूसरे riviere में या fleuve में समाविष्ट हो जाता है।

प्लेटो ने भी Cratylus में इस समस्या को उठाया था परन्तु उसे अनुत्तरित छोड़ दिया। सास्युअर ने इस पर जो वादानुवाद आरंभ किया उसका भाषिक सिद्धांतों एवं संबंधित संहिताओं पर प्रभाव पड़ा। उसका एक महत्त्वपूर्ण बिंदु यह है कि यदि संकेत के संकेतक एवं संकेतित का संबंध स्वतंत्र रूपेण होता तो वृक्ष को प्रत्येक भाषा में वृक्ष कहा जाता। सारी दुनियाँ में एक ही भाषा बोली जाती, जबकि ऐसा नहीं है। यह ध्यान देना होगा कि संकेतक और संकेतित का संबंध प्रकृति के प्रति तो स्वतंत्र है किंतु संस्कृति के प्रति स्वतंत्र नहीं है। जिस संस्कृति में हिंदी का चलन हो वहाँ वृक्ष को पेड़ कह सकते हैं परन्तु tree या Arbor नहीं।

सास्युअर ने आग्रह किया है कि भाषाई संरचनाएँ आत्मनिर्भर और अपने नियमों को स्वयं निर्धारित करने वाली यानी स्वायत्त होती हैं। उनकी दृष्टि अंतर्मुखी होती है। भाषा में संकेत किसी निरपेक्ष विशेषता के आधार पर नहीं अपितु संबंधों के आधार पर और उन विशिष्टताओं के आधार पर क्रियान्वित होते हैं जो भेद और विरोध पर स्थापित है। सास्युअर ने कहा *"In Language there are only difference without positive terms"*। भाषा में भेद है केवल बिना सकारात्मक पदों के यही वह सूत्र है जिसने अनंतर देरिदा के विरचनावाद की आधारशिला बनाई। फिर सास्युअर ने इस पर बल दिया कि संकेत तंत्र का गहन अध्ययन मानवीय जीवन के तंत्र या उसकी समस्त सामाजिक सांस्कृतिक अभिव्यंजनाओं के तंत्र को समझने में सहायक हो

सकता है। उसने संकेत तंत्रों के अध्ययन को संकेत-विज्ञान का नाम दिया था और कहा कि एक दिन वह विधा अस्तित्व में आएगी।

अतएव भाषा या ध्वनि अथवा शब्द नि:सर्गत: चीजों को व्यक्त नहीं करते, बल्कि उनकी अवधारणा स्थापित करते हैं या उनके संबंधों की धारणा स्थापित करते हैं जो दूसरे शब्दों से भाषा के भीतर रहते हैं। जिन चीजों का भाषा उल्लेख करती है वे वास्तविक चीजें नहीं जो भाषा के बाहर अस्तित्व रखती हैं। प्रत्युत उन चीजों की अवधारणाएँ जो भाषा के भीतर विद्यमान हैं। इस का अर्थ यह नहीं कि भाषा के सांकेतिक तंत्र से हटकर बाहर ठोस दुनिया अस्तित्व नहीं रखती है। किंतु उसका ज्ञान होता है या वह मनुष्य के बोध का हिस्सा भाषा की संहिताबद्ध संरचना के माध्यम से ही बनती है। वह हमारे और दुनियाँ के बीच संपर्क बनाती है। अर्थात वास्तविक वृक्ष अस्तित्व रखता है, लेकिन वह हमारे बोध का हिस्सा उस अवधारणा के माध्यम से ही बनता है जो भाषा के तंत्र से स्थापित होती है।

भाषा के संबंध में यह भ्रांत धारणा, कि भाषा यथार्थ का प्रतिबिंब प्रस्तुत करती है, इस कारण पैदा होती है कि वस्तु की अवधारणा उत्पन्न करने के बाद वह लुप्त हो जाती है। अत: यह अनुभव ही नहीं होता है कि जिस संपर्क से हमने वस्तु को पहचाना है, यह स्वयं वस्तु नहीं थी, बल्कि अवधारणा थी जो भाषा तंत्र के द्वारा अस्तित्व से आई। यह ध्यान देने योग्य है कि किसी भाषा को बोलते हुए उसके साथ वाक्यों की एक अनंत सँख्या बोलने वाले की पहुँच में होती है, लेकिन वह आधृत होती है शब्दों की सीमित सँख्या पर। सीमित शब्दों और सीमित संबंधों की सहायता से दैनंदिन वार्तालाप में वाक्यों की रचना होती है और होती रहेगी। सीमित से असीमित की रचना किस प्रकार संभव है, सास्युअर के अनुसार इसके लिए भाषा का सिद्धांत उसकी संरचना है तथा प्रत्येक रूप इस संरचना से निर्मित होता है। इस प्रकार भाषा का रचनात्मक कार्य जारी रहता है।

भाषा के माध्यम से मनुष्य बाह्य यथार्थ या विश्व का बोध करते हैं, यह मानवीय मस्तिष्क की विशिष्ट संरचना है। मात्र इतना ही नहीं बल्कि यह समस्त मानवीय यथार्थ की विशिष्ट संरचना है। प्रत्येक परिस्थिति अपनी अभिव्यक्ति के लिए वाक्य की मुखापेक्षी है और वाक्य का अध्ययन भाषा के अंदर दूसरे वाक्यों से उनकी अनुरूपताओं और संबंधों एवं उन संबंधों के संपूर्ण तंत्र की अवधारणा आधुनिक भाषिकी की केंद्रवर्ती अवधारणा है।

संरचनावाद ने इसका आग्रह किया कि पाठ न केवल एक तंत्र के रूप में प्रभावकारी होता है, अपितु साहित्यिक तंत्र व्यापकतर सांस्कृतिक तंत्र के भीतर कार्य करता है। इसका श्रेष्ठतम दृष्टांत रोलां बार्थ की कृति *एस/जेड* है। सास्युअर के अनुसार भाषा उसी समय अस्तित्व में आ जाती है जब समाज अस्तित्व में आता है। भाषा और समाज तथा भाषा एवं विचार प्रणाली में गहरा संबंध है। संस्थाओं का कोई भी कार्य भाषा के बिना संभव नहीं है। केवल एक सामाजिक समुदाय ही संकेतों का सृजन कर सकता है। भाषा प्रारंभ से अंत तक एक सामाजिक व्यवहार है। संकेत और संकेतित का पारस्परिक संबंध प्रकट नहीं है। यह प्रक्रिया भाषाई समाज के भीतर होती है। कोई

भी समाज भाषा के प्रतीकात्मक तंत्र के बिना स्थापित हो ही नहीं सकता, न ही उनकी उत्पादन प्रणालियाँ और रहन-सहन।

इस प्रकार सास्युअर ने भाषा के सामाजिक यथार्थ होने का आग्रह किया। उसका आधार युग्मित अंतर या द्विचर विरोधों (binary opposition) पर है। यह अंतर विश्व की सभी भाषाओं में पाया जाता है और सार्वभौम स्वरूप का है। रोमान याकूबसन और मौरिस हॉले ने अपनी पुस्तक *फंडामेंटल्स ऑफ लेंग्वेज* (द हेग, 1956) में सिद्ध किया कि युग्मित विरोध में अंतर स्थापित करना बच्चे के मस्तिष्क का पहला युक्तिपरक कार्य होता है। यह विरोध मानव मस्तिष्क का पहला कदम है जिससे संस्कृति प्रकृति में प्रविष्ट होना आरंभ करती है। युग्मित अंतर से पृथकत्व स्थापित करना और उससे सहायता लेना ही मानव मस्तिष्क का वैशिष्ट्य और उसकी सबसे बड़ी पहचान है। मानव मस्तिष्क की यही विशेषता संरचना को जन्म देती है और उसमें काम लेती है। संरचनावाद में संपूर्ण तंत्र की अवधारणा एक श्रेणीबद्ध संगठन के रूप में की जाती है, जिसमें प्रत्येक श्रेणी अथवा तल पर इन्हीं सिद्धांतों के कार्यान्वयन से निचले धरातल के तत्व अपनी संगति एवं वैशिष्ट्य से श्रृंखला दर श्रृंखला आनुषांगिक संबधों एवं अर्थों की मैत्री को उत्पन्न करते हैं।

भाषा की संरचना का अभिप्राय भाषा के विभिन्न तत्वों के मध्य संबंधों का वह तंतु है जिसके आधार पर भाषा बोली और समझी जाती है। संकेतों के तंत्र जिसमें प्रत्येक वस्तु पारस्परिक संबंधों से गुम्फित है। यह संबंध संगति/विरोध/उपस्थिति/अनुपस्थिति पर आधारित है। संबंधों के प्रकार्य के इस तंत्र से अर्थ स्थापित होता है। साथ ही संस्कृति के बीसियों वर्ग हैं। प्रत्येक वर्ग में तत्वों के पीछे संबंधों का एक तंत्र है जो स्वरूप की दृष्टि से अमूर्त है। जो संगति और विरोध, उपस्थिति/अनुपस्थिति के दोहरे प्रकार्य का वाहक है। याकूब्सन के अनुसार यह विचार विरोध, एक दीप्तिमान शक्ति के समान है, जो भाषा के प्रत्येक सार यानी ध्वनि, शब्द, वाक्य आदि सारे स्तरों पर मिलता है और भाषा की समस्त क्रियाशीलता में आधारभूत भूमिका निभाता है।

प्राच्य भाषा चिंतन

ऊपर जिस यूरोपीय/पाश्चात्य नई अंतर्दृष्टि की चर्चा है तथा अँग्रेज़ी भाषा एवं साहित्य में जिन प्रगतियों का प्रादुर्भाव बीसवीं शताब्दी में हुआ है उन बिंदुओं पर भारतीय चिंतन परंपरा में अति प्राचीन काल से विचार होता आया है। सच तो यह है कि आधुनिक पाश्चात्य/यूरोपीय चिंतन और प्राचीन भारतीय चिंतन में विस्मयकारी समानताएँ दीख पड़ती हैं।

यूरोप में भाषा के अध्ययन का कार्य ऐतिहासिक रूप से संक्षिप्त ही है। स्वयं अनेक यूरोपीय विद्वानों ने स्वीकार किया है कि ग्रीस की तुलना में भारतीय विवेचन कहीं अधिक वैज्ञानिक और सूक्ष्म है। यूरोपीय सभ्यता के उद्गमस्थल ग्रीस के विद्वानों ने अपने को सीमित रखा। सुकरात (ई.पू. 469-399) की मान्यता थी कि शब्द और अर्थ का संबंध नैसर्गिक न होकर रूढ़ होता है। वहीं प्लेटो (ई.पू. 429-347) के अनुसार शब्द और अर्थ में नैसर्गिक संबंध हैं। पश्चिम में प्लेटो ने ही सर्वप्रथम ध्वनियों का वर्गीकरण किया। उसके अनुसार शब्द और

अर्थ में एक प्रकार का रहस्यात्मक नैसर्गिक संबंध है। संसार के प्रत्येक वस्तु की अपनी ध्वनि है। भाषा को वह नामकरण की पद्धति पर आधारित और उससे उत्पन्न मानता है। परन्तु अरस्तू (ई.पू. 384–322) ने माना कि शब्द और अर्थ का संबंध रूढ़ होता है। उसने शब्द और वाक्य आदि के संबंध में अपने विचार व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किए। किंतु ग्रीकों की भाषा संबंधी कल्पना लगभग 18वीं शताब्दी तक ज्यों की त्यों चलती रही और उसमें कुछ खास विकास नहीं हुआ।

लैटिन की स्थिति तो ग्रीक से भी अधिक बुरी थी। सर्वप्रथम रूसो ने 18वीं शताब्दी में अपना भिन्न मत प्रतिपादित किया कि मनुष्य ने पारस्परिक विनिमय से भाषा बनाई है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि 18वीं शताब्दी में जब पाश्चात्य/यूरोपीय भाषा वैज्ञानिकों का संस्कृत से परिचय हुआ तब जाकर उन्होंने भाषा के संबंध में नए सिरे से सोचा और भाषा संबंधी आधुनिक पाश्चात्य/यूरोपीय विचारों को जन्म दिया। भाषा शब्द संस्कृत के भव् धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ है व्यक्त वाणी। जिससे प्रकट होता है कि भाषा का मुख्य प्रयोग ध्वनि संकेतों की सहायता से भावों या विचारों की अभिव्यंजना के लिए ही होना चाहिए।

भाषा संबंधी मीमाँसा के क्षेत्र में भारत की देन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। ध्वनि पद, वाक्य, अर्थ और आघात भाषा का कोई पक्ष नहीं है जो भारतीय भाषा चिंतन में शामिल नहीं हुआ है। भारतीय सारस्वत साधना का उदगम स्थल वेद है। वेद शब्द का अर्थ ही है ज्ञान। भाषा के संबंध में हमारे पूर्वज कितने जागरूक थे, इसका अन्यतम प्रमाण यह है कि वेद के अध्ययन के लिए उसके छः अंगों का अध्ययन भी अनिवार्य समझा गया और छः अंगों में शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छंद और ज्योतिष में शिक्षा व्याकरण निरूक्त और छंद—ये चार भाषा से ही संबद्ध हैं। शिक्षा का संबंध ध्वनि से था, व्याकरण का पद और वाक्य से। निरूक्त का व्युत्पति से और छंद का वैदिक मंत्रों के सम्यक पाठ से। पाठ को शुद्ध बनाए रखने के लिए मंत्रपाठ, पदपाठ, क्रमपाठ, ज़रापाठ, धनपाठ। वेद पढ़ने वालों को ये सभी पाठ कंठस्थ रहते थे। मंत्र स्थित पदों को मिलाकर पढ़ना, मंत्र पाठ, पदों को तोड़कर पढ़ना पद पाठ, क्रम से दो-दो को पढ़ना क्रम पाठ। प्रथम पद को द्वितीय के साथ, द्वितीय को प्रथम के साथ, इस प्रकार आगे 1–2, 2–1, 2–3, 3–1... को ज़रा पाठ। अंत की ओर से आरंभ कर दूसरे पद का पहले पद के साथ पढ़ते जाने को धनपाठ कहा गया है।

यद्यपि प्राचीन भाषा चिंतन में भाषा की समस्या पर कई प्रकार से बहस उठाई गई है। प्रथम, व्याकरणिक चिंतन के संप्रदाय में। द्वितीय, प्राचीन भारतीय चिंतन दर्शन के जो छः प्रधान संप्रदाय हैं उनमें भाषा दर्शन पर विभिन्न कोणों से विचार हुआ है। कुछ मूल ग्रंथों का काल वेदों के तुरंत बाद का है। वेद स्वयं उत्तम काव्य के अप्रतिम उदाहरण हैं। तीसरे, इस पर अलंकार शास्त्र एवं साहित्य शास्त्र के सम्प्रदाय से विचार हुआ है।

इसमें व्याकरण सबसे प्राचीन है जिनमें यास्क पाणिनी के भी पूर्ववर्ती माने जाते हैं। पाणिनी ने अपने लब्ध-कीर्ति ग्रंथ *अष्टाध्यायी* में संस्कृत संरचना के सिद्धांत दिए, उन्हें वैज्ञानिक सर्वदेशीयता

के साथ नियमबद्ध किया। कात्यायन ने उस पर वर्तिक लिखा और उनके सूत्रों में वृद्धि की। पतंञ्जलि ने पाणिनी और कात्यायन दोनों के मूल पाठों की टीका *महाभाष्य* नाम से लिखी। पतंञ्जलि के बाद व्याकरण परंपरा के सबसे बड़े चिंतक भर्तृहरि को माना जाता है जिन्होंने न केवल पतंञ्जलि के *महाभाष्य* की टीका लिखी, अपितु *वाक्यपदीयम्* नाम से भाषादर्शन पर संवर्धित ग्रंथ लिखा जिसका महत्त्व आज भी जगविदित है। किंतु छठी-सातवीं शताब्दी के उपरांत व्याकरण परंपरा का वेग क्षीण हो गया और उसका स्थान अलंकार शास्त्र, काव्य शास्त्र की परंपराओं में समाविष्ट हो गया।

भारतीय दर्शन में मीमाँसकों ने शब्दार्थ की समस्या पर सबसे अधिक चिंतन-मनन किया है जिसका मूल पाठ जैमिनी के मीमाँसा सूत्र में है। उस पर शबर ने विस्तृत भाष्य लिखा। शबर कृत भाष्य के निष्कर्षों से मतामत के आधार पर कूमारिल भट्ट और प्रभाकर के वाद-प्रतिवाद से दो आनुशांगिक संप्रदाय अस्तित्व में आए। यह क्रम मध्यकाल तक चलता रहा। भारतीय दर्शन में भाषा और अर्थ की सत्ता पर मीमाँसा के पश्चात् सर्वाधिक विचार-विमर्श न्याय दर्शन में हुआ जो मूलतः तर्कविदों का समुदाय है। बौद्ध तार्ककों में नागार्जुन और दिङ्गनाग विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जिनके शून्य और अपोह सिद्धांतों की विवेचना तथा बीसवीं शताब्दी में सास्युअर एवं देरिदा की विवेचना में विलक्षण समानताएँ हैं। ध्यान रहे, नागार्जुन का काल दूसरी शताब्दी और दिङ्गनाग का पाँचवी शताब्दी है। बौद्ध अपोह सिद्धांत को आगे बढ़ाने वालों में धर्मकीर्ति और रत्नकीर्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भाषा दर्शन और अर्थ दर्शन के संबंध में तीसरी धारा साहित्य चिंतन नाट्य शास्त्र/काव्य शास्त्र/अलंकार शास्त्र की है। *नाट्य शास्त्र* जिसकी रचना छठी शताब्दी ई.पू. मानी जाती है, भरत मुनि की कृति मानी जाती है। भरत का उल्लेख कालिदास के यहाँ भी मिलता है। भरत मुनि का वाद आने वालों में भामह (काव्यालंकार), दण्डी (काव्यादर्श), वामन (काव्यालंकार सूत्रावर्ती) और उदभट (काव्यालंकार सार संग्रह) ने काव्य संबंधी प्रश्नों पर विस्तार से विचार किया। नवीं शताब्दी में आनन्दवर्धन ने भरत के रस सिद्धांत को विधिपूर्वक काव्य पर चरितार्थ करते हुए काव्यभाषा की बहस को अपनी प्रसिद्ध कृति ध्वन्यालोक में स्थापित किया। काव्य शास्त्र की इन परंपराओं को अभिनवगुप्त, धनंजय, भोज, विश्वनाथ, नागभट्ट, हेमचंद्र जयदेव, जगन्नाथ और दूसरों से परिवर्धित किया।

भारतीय चिंतन परंपरा में शब्द के दो रूप हैं। स्फोट नित्य है और ध्वनि अनित्य। वैयाकरणों ने प्रकृति और प्रत्यय, स्फोट और ध्वनि के जिस सिद्धांत की स्थापना की है उसका स्पष्ट और असंदिग्ध शब्दों में प्रतिपादन यजुर्वेद के 40वें अध्याय में है जो ईशोपनिषद के नाम से भी जाना जाता है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड में वैयाकरणों के सिद्धांत का उल्लेख किया है कि समस्त शास्त्रों का विवेचन केवल उपयोगिता के लिए है। ध्वनि संकेत तत्व को प्रकट करने में असमर्थ है, क्योंकि तत्व आत्मसाक्षात्कार का विषय है। वह स्वानुभूति संबंध है। जिस प्रकार रेखाचित्र से गाय का बोध कराते हैं जो वस्तुतः

असत्य है। उसी प्रकार ध्वनि के द्वारा स्फोट का ज्ञान प्राप्त होता है। (पुण्यराज, 2, 234-40)।

ऋग्वेद का कथन है कि वाक्तत्त्व को पद विभाजन की दृष्टि से चार पदों में विभक्त किया गया है। नाम आख्यात, उपसर्ग और निपात। (चरग् 01.164.45)। नागेज्ञा ने इसकी व्याख्या में कहा है। इन विभागों के पारिभाषिक नाम हैं—परा पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। इनमें से तीन पद ज्ञान के विषय नहीं हैं और गुप्त रहते हैं। इस प्रकार उच्चारित ध्वनि संकेतों के पूर्व भाषा की कल्पना कितनी गहरी अंतर्दृष्टि रखती है। इसकी तुलना देरिदा के विचारों से की जा सकती है। अर्थ तत्व इसी वाक् तत्व का फल और फूल अर्थात उपादेय साराँश है। निरूक्त 1.20 वाक तत्व और मन्स तत्व के सुंदर उपदेश ऐतरेय उपनिषद् के मंगलाचरण और उपसंहार से प्राप्त होते हैं कि वाक् तत्व की मनस्तत्व में प्रतिष्ठा होनी चाहिए और मनस्तत्व की वाक् तत्व में।

वाङ्गमे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्।
– (ऐतरेयोपनिषद्)

वैयाकरण स्फोटवाद का समर्थक है। 'विवर्त' अतात्विक ज्ञान (भ्रम माया) को कहा गया है। भर्तृहरि भी अर्थ को शब्द का विवर्त मानते हैं। शब्द का कई बार प्रकृति के रूप में या अस्तित्व के अर्थ में वर्णन मिलता है और कई बार ध्वनि संकेत के रूप में। परंतु यह स्पष्ट है कि प्रकृति को संकेतों के द्वारा हम समझ रहे हों या शब्द के अर्थ को उसकी अनिश्चितता असंदिग्ध है। जहाँ भर्तृहरि तथा अन्य शब्द को अनादि और अनंत मानते हैं। वहाँ शब्द प्रकृति के अर्थ में है। शब्द के इन रूपों का वर्णन कूमारिल के इस श्लोक से होता है—

तत्वावबोध : शब्दानो नास्ति श्रोतेंद्रियाहते।

शब्दों का तात्विक ज्ञान श्रोत्रेंद्रिय के बिना नहीं होता—अर्थात सुना जाने वाला शब्द और शब्द (प्रकृति या ब्रह्मबोधक) इन दो शब्दों का प्रयोग दिखाई पड़ता है।

पतंञ्जलि ने व्याकरण को शब्दानुशासन नाम से संबोधित करते हुए महाभाष्य प्रारंभ किया है। पतंञ्जलि ने व्याकरण का विषय लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों को बताया है। 'लौकिकानां वैदिकानां च' (महा. अ.)। पतंञ्जलि ने शब्द के अनुशासन को व्याकरण का विषय बताया है। अतः यह स्वाभाविक है कि शब्द क्या है, उसका स्वरूप क्या है, इनका विवेचन पतंञ्जलि करते हैं। उन्होंने लिखा है कि लोक में शब्द और अर्थ में अभेद रूप से व्यवहार देखा जाता है। *'अयं गौः अयं शुक्लः'* यह गौ है यह शुक्ल है, यहाँ गौ शब्द और गौ वस्तु के पृथक ज्ञान को वह आवश्यक नहीं समझते हैं। वह पूछते हैं कि क्या भिन्न वस्तुओं में अभिन्न रूप से और पृथक रहने वाली जाति शब्द है? नहीं, वह जाति है। इन उत्तरों द्वारा पतंञ्जलि ने स्पष्ट किया है कि शब्द द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति से भिन्न सत्ता है। वह क्या है, इसका उत्तर देते हैं। जिसके उच्चारण से सास्ना, लांगूल आदि से युक्त वस्तु का ज्ञान होता है—

***येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गुलककुदेरतृरविषणिनां संप्रत्ययो भवति स शब्दः ।* (महा.आ.)**

इतना ही नहीं पतंञ्जलि लोक में प्रचलित ध्वनि को शब्द कहते हैं, जिससे अर्थ की प्रतीती होती है। पतंञ्जलि ये भी मानते हैं कि उच्चरित

ध्वनि से अर्थ ज्ञान होता है। परंतु वह पूछते हैं कि पाणिनी ने पहले से विद्यमान शब्दार्थ संबंध के विषय में व्याकरण बनाया है या सर्व अनित्य मानकर नए शब्द और नए अर्थ की सृष्टि की है। इस संबंध में वेद आदि का प्रमाण न देकर लोक व्यवहार को ही प्रमाण बताया है।

लोकतः लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्द प्रयोगे यज्ञस्त्रेन धर्म नियमः।
(महा.आ.)

लोक व्यवहार में शब्द का जो अर्थ विद्यमान है उसी के विषय में विवेचन करके धर्म की प्रतिष्ठा करता है। पाणिनी स्वयं अर्थ के विषय में लोक व्यवहार को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

प्रधान प्रत्ययोर्कवचनमर्व्यस्याऽन्सप्रमाणत्वोत् **!**
(अष्ट.1,3,5,6)

जहाँ शब्द एक ओर बाह्य अर्थ का बोध कराता है वहीं शब्द और अर्थ का संबंध बुद्धिगत है। भर्तृहरि के अनुसार इतना ही नहीं कि एक ही वस्तु को विभिन्न व्यक्ति अपने ज्ञान और वासना भेद से विभिन्न समझते हैं, अपितु काल या अवस्था भेद से एक ही व्यक्ति शास्त्र और वासना की अनियत्ता के कारण क्रमशः विभिन्न रूप से समझता है। विभिन्न व्यक्ति एक ही शब्द का स्वज्ञानानुसार विविध अर्थ समझते हैं (वाक्य 2.1.36)।

भर्तृहरि और पुण्यराज का कथन है कि शब्द अर्थ के स्वरूप को स्पर्श नहीं करते, अपितु दूर रहते हुए ही अर्थ का संकेत करते हैं तथा इस व्यवहार के लिए उपयोगी होते हैं। शब्द में यह शक्ति नहीं है कि वह अर्थ के मूल स्वरूप को स्पर्श कर सके (पुण्यराज वाक्य–2.4.82)। भर्तृहरि आगे लिखते हैं पदों में तबतक सार्थकता नहीं आती जबतक कि वे वाक्य का रूप न प्राप्त कर लें। वाक्य के अतिरिक्त पद की कोई सार्थकता नहीं है। वाक्य ही सार्थक है। दूसरी बात पतंञ्जलि ने महाभाष्य में सबसे प्रथम अन्वय व्यक्तिरेक के महत्त्व पर ध्यान आकृष्ट किया है और अर्थ निर्णय या अर्थ ज्ञान के लिए अन्वय और व्यतिरेक को मनुष्य साधन माना है।

अन्वय और व्यतिरेक द्वारा यह निर्णय स्पष्ट रूप से किया जाता है कि शब्द में यह अर्थ प्रकृति का है या अर्थ प्रत्यय का है। यहाँ ज्ञात हो अन्वय जिसे होने पर वह होता है। व्यतिरेक : जिसके न होने पर वह हो।

सिद्धं त्वन्वयव्यतिरेकाभ्याम् **(महा 1.2.45)**

हेलराज ने तो वाक्य पदीय की व्याख्या करते हुए लिखा कि शब्द अपूर्ण अर्थ का बोध करता है। शब्द से विकल्पात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः कहा गया है कि शब्द विकल्पों के कारण है और विकल्प शब्दों के कारण। (तदुक्तम विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पा शब्द योनयः) भतृर्हरि ने कहा है कि वक्ता एक अर्थ में शब्द का प्रयोग करता है परन्तु भिन्न–भिन्न श्रोता उसको अपनी–अपनी बुद्धि के अनुसार भिन्न–भिन्न अर्थ में लेते हैं (वाक्य. 2.1.37)। सबकी प्रतिभा, अनुभव, ज्ञान और ग्रहण शक्ति समान नहीं है। अतएव अर्थ समान, व्यवस्थित और निश्चित नहीं रहता (वाक्य 2.1.39)।

भर्तृहरि ने लिखा है कि शब्द और अर्थ का संबंध वक्ता की इच्छा के अधीन रहता है। प्रयोक्ता जिस शब्द का अर्थ जिस अर्थ में प्रयोग करता है उसी प्रकार उसका स्वरूप हो जाता है। पद का

अर्थ वस्तुत: व्यवस्थित नहीं है, निरूपण से ही उसकी व्यवस्था होती है। एक ही अर्थ निरूपण के भेद से अन्यथा ज्ञात होता है। अत: शब्द और अर्थ का संबंध वास्तविक नहीं अपितु काल्पनिक है। भर्तृहरि के अनुसार वाक्य, प्रकरण, अर्थ, औचित्य, देश और काल से शब्दों में भेद होता है।

पतंञ्जलि का मत है कि 'अर्थ गत्यर्थ: शब्द प्रयोग:'। अर्थ बोधन के लिए शब्द का प्रयोग होता है। परंतु अर्थ बोधकता संदिग्ध होने पर भी वाक्य में प्रयुक्त शब्द से किस प्रकार निश्चित अर्थ ज्ञात होता है। और अर्थबोधन के लिए शब्द प्रयोग एक अच्छा साधन बन जाता है। शब्दों के द्वारा ही संसार की समस्त वस्तुओं में नामकरण द्वारा विभाजन किया जाता है (वाक्य 1.125)।

हरिवृषभ ने भर्तृहरि के उक्त श्लोक की व्याख्या में कहा है कि समस्त उत्पन्न हुई वस्तुओं में शब्द रूप नामकरण के द्वारा ही विभेद किया जाता है। भर्तृहरि ने शब्द के स्वरूप की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए उसकी विभिन्नता का प्रतिपादन किया है।

हेलराज के अनुसार शब्द के तीन विभिन्न रूप हैं, अभिधान (शब्द), अभिधेय (अर्थ) और निमित्त (संबंध)। इन तीनों के कारण भर्तृहरि ने स्वरूप शब्द का बहुवचन नान्त प्रयोग किया है। गौतम ने कहा यदि शब्द और अर्थ का संबंध वस्तुत: स्वाभाविक और नित्य है तो एक ही शब्द का विभिन्न देश एवं विभिन्न भाषाओं में विभिन्न अर्थ नहीं होता।

नैयायिकों और वैशेषिकों ने शब्द और अर्थ में संबंध न मानने पर यह अनुभव किया है कि तब संसार का काम ही नहीं चल सकता। अतएव न्याय दर्शन में गौतम ने कहा कि शब्द और अर्थ में संबंध दीख पड़ता है। अत: संबंध का निषेध नहीं किया जा सकता है। परंतु यह संबंध सांकेतिक है। (न्यायसूत्र 2.1.54-55) कणद् ने भी शब्दार्थ संबंध को सांकेतिक ही स्वीकार किया है। वात्स्यायन (न्यायसूत्र 2.1.55) के भाष्य में कहा है कि वाच्य-वाचक नियम का विनियोग ही संकेत है।

अंतत: बौद्ध दर्शन के अपोहवाद पर भी एक दृष्टि आवश्यक है। बौद्ध दार्शनिक शब्द और अर्थ में कोई संबंध नहीं मानते। उनके मतानुसार शब्द से अर्थ का ज्ञान इस प्रकार होता है जैसे—गाय शब्द गाय का बोध नहीं कराता अपितु प्रथम अपोह अर्थात अन्य पशुओं (अश्व आदि) की व्यावृति करता है। तदंनतर इस अपोह के द्वारा अन्य की व्यावृति होने पर अनुमान से ज्ञान प्राप्त करते हैं कि यह गाय है। रत्नकीर्ति ने अपोह सिद्धि में अपने विचार का निरूपण करते हुए लिखा है कि हम अपोहवाद से केवल विधि को ही ग्रहण नहीं करते न केवल अन्य की व्यावृति अपितु अन्य व्यावृति विशिष्ट विधि शब्दों का अर्थ है गाय कहने पर गाय भिन्न का निषेध करके गाय का ज्ञान कराना। रत्नकीर्ति ने यह भी स्पष्ट किया है कि निषेध और विधि ये दोनों ज्ञान आगे पीछे नहीं अपितु एक साथ होते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट देखा जा सकता है कि सास्युअर के विचारों को संस्कृत भाषा संबंधी अध्ययन से ही अंतर्दृष्टि मिली थी। ज्ञात हो कि वह संस्कृत विषय का ही विद्यार्थी रहा था। अंत में संकेत ग्रह अर्थात अर्थ ग्रहण के आठ साधन माने गए हैं जो इस प्रकार हैं—(1) व्याकरण, (2)

उपमान, (3) कोष, (4) आप्तवाक्य, (5) व्यवहार, (6) वाक्य शेष, (7) विवरण, (8) ज्ञात पद के साहचर्य से।

अतएव, आचार्यों ने वेदों, उपनिषदों, संहिताओं एवं व्याकरण की पाँच हजार वर्ष लंबी परंपरा में निम्न बातें प्रतिपादित की हैं—

- शब्द अर्थ का आभास प्रदान करते हैं।
- शब्द के अर्थ प्रदत्त हैं।
- शब्द में अर्थ मूलत: लोक व्यवहार द्वारा प्रतिपादित है।
- वह असत्य है।
- अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा अर्थ ज्ञान संभव होता है।
- अर्थ सांकेतिक है।
- वह विकल्पात्मक है।

शब्द और अर्थ के बाद साहित्य के बारे में भारतीय चिंतकों के विचारों पर एक संक्षिप्त चर्चा उपयुक्त है। सर्वप्रथम काव्य शास्त्र के आदि आचार्य भामह ने अपने ग्रंथ के प्रारंभ में ही कहा—*शब्दार्थौ सहितौ काव्यं*। शब्द और अर्थ के साहित्य का नाम काव्य है। 11वीं शताब्दी में भी अलंकार सर्वस्वरकार रूप्यक ने भी *साहित्य मीमाँसा* नामक दूसरा ग्रंथ लिखा था। आधुनिक युग में प्रयुक्त होने वाले शब्द साहित्य का श्रेय 14वीं शताब्दी के विश्वनाथ को जाता है। जिन्होंने अपने ग्रंथ को *साहित्य दर्शन* नाम दिया।

भारतीय काव्य शास्त्र या साहित्य शास्त्र के सर्वप्रथम प्रतिपादक भरत मुनि को ही माना जाता है। वे समस्त भारतीय काव्य शास्त्र के सिद्धांतों के अग्रदूत माने जाते हैं। 9वीं शताब्दी में आनंदवर्धन ने भरत के रस सिद्धांत को विधिपूर्वक काव्य पर चरितार्थ करते हुए काव्य भाषा पर विमर्श की अपनी प्रसिद्ध कृति *ध्वन्यालोक* में स्थापित किया। अभिनव गुप्त ने नाट्य शास्त्र पर नए सिरे से विचार कर अपनी नई टीका *अभिनव भारती* लिखी। आगे चलकर कई विद्वानों ने इसे समृद्ध किया।

भरत मुनि के काल का निर्णय करना बड़ा कठिन कार्य है। जो लोग भरत मुनि को ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं वे उनका काल 500 वि.पू. से लेकर प्रथम शताब्दी के बीच में मानते हैं। वैसे तो भरत मुनि के ग्रंथ का नाम *नाट्य शास्त्र* है परंतु उसे उचित ही समस्त कलाओं का विश्वकोश कहा जाता है। रस की अनुभूति का मुख्य कारण मन के भीतर स्थित स्थायी भाव है जो अनुकूल आलम्बन तथा उद्दीपन रूप उदबोधक सामग्री को पाकर अभिव्यक्त हो उठता है और हृदय में अपूर्व आनंद का संचार कर देता है। *'व्यक्त: स वैर्विभावाधै: स्थायि भावोरस: स्मृत:'* कहा गया है। अर्थात उन पूर्वोवत विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभावों के संयोग से व्यक्त होने वाले स्थायी भाव को रस कहते हैं। व्यवहार में मनुष्य को जिस-जिस प्रकार की अनुभूति होती है उसको ध्यान में रखकर प्राय: आठ प्रकार के स्थायी भाव साहित्य में माने गए हैं। काव्य प्रकाश में उनकी गणना इस प्रकार की गई है—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौभयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावा: प्रकीर्तिता॥

अर्थात् (1) रति, (2) हास, (3) शोक, (4) क्रोध, (5) उत्साह, (6) भय, (7) जुगुप्सा या

घृणा, और (8) विस्मय यह आठ स्थायी भाव कहलाए। इसके अलावा निर्वेद को भी नौंवा स्थायी भाव माना गया है। इन नौ प्रकार के स्थायी भावों के अनुरूप ही (1) श्रृंगार, (2) हास्य, (3) करुण, (4) रौद्र, (5) वीर, (6) भयानक, (7) वीभत्स, (8) अदभुत और (9) शांत रस माने गए हैं। ये नौ स्थायी भाव मनुष्य के हृदय में स्थायी रूप से विद्यमान रहते हैं। इसलिए स्थायी भाव कहलाते हैं। सामान्य रूप से वे अव्यक्तावस्था में रहते हैं। किंतु जब जिस स्थायी भाव के अनुकूल विभावादि सामग्री प्राप्त हो जाती है तब वह व्यक्त हो जाता है और रस्यमान या आस्वाद्यमान होकर रसरूपता को प्राप्त होता है।

विभावमनुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पति:! (भरत मुनि)। अर्थात विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव के संयोग से रस निष्पति होती है। यहाँ संपूर्ण अवचेतन की गहरी समझ स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। (1) रस अनुभूति के कारणों को विभाव कहते हैं। आलंबन विभाव, उद्दीपन विभाव। (2) अनुभाव—स्थायीभाव रसानुभूति का प्रयोजक अभ्यंत अंतरंग कारण है। आलम्ब तथा उद्दीपन रसानुभूति का बाह्य कारण है। उसी प्रकार अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव अंतर रसानुभूति से उत्पन्न एवं उसके बाह्य अभिव्यक्ति के प्रयोजक शारीरिक एवं मानसिक व्यापार हैं। इन्हें रस का कारण, कार्य तथा सहकारी कहा गया है।

भारतीय चिंतन परंपरा की यह बात भी ध्यान में रखी जानी चाहिए कि गूढ़ तत्व का प्रतिपादन करने वाले ग्रंथ शास्त्र कहे जाते हैं। काव्य का जीवनधारक तत्व रस है। *सद्य: परिनिवृति*। काव्य की उपदेश शैली में न शब्द की प्रधानता होती है न अर्थ की। वहाँ शब्द-अर्थ दोनों गुणीभाव हरेक केवल रस की प्रधानता होती है। यह शैली वेद-शास्त्र की शब्द प्रधान तथा इतिहास पुराण की अर्थप्रधान दोनों शैलियों से भिन्न मानी गई। पाठक के लिए काव्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि का सरल मार्ग है। यहाँ आचार्य देवेंद्रनाथ शर्मा के उदगार का उल्लेख प्रासंगिक है,—

> *"यह विचित्र विरोधाभास है कि यूरोप में भाषा विज्ञान के अध्ययन का आरंभ संस्कृत के अध्ययन और परिज्ञान से प्रेरित हुआ, और हिंदी में यूरोपीय प्रभाव के फलस्वरूप"*
>
> (देवेंद्रनाथ शर्मा, भाषा विज्ञान की भूमिका, पृ. 325)।

उत्तर संरचनावाद

यूरोपीय साहित्य चिंतन एवं उसके निष्कर्ष की चर्चा में उत्तर संरचनावाद/विरचनावाद पर विचार कर लेना भी उचित है। 1966 में जॉन हॉपकिंस विश्वविद्यालय के उस प्रसिद्ध सेमिनार, जो यद्यपि संरचनावाद पर विचार-विमर्श हेतु आयोजित किया गया था, किंतु जाक देरिदा की उपस्थिति और उसके आलेख से यही सेमिनार अनंतर विरचनावाद का प्रस्थानबिंदु सिद्ध हुआ। एक वर्ष के अंदर 1967 में पैरिस से देरिदा की तीन पुस्तकें सामने आयीं जिनका अँग्रेज़ी अनुवाद अमरीकी विश्वविद्यालयों में हाथों हाथ लिया गया। (1) Of Gramatology, (2) Writing and Difference तथा (3) Speech and Phenomena.

उत्तर संरचनावादी विमर्श की प्रकट विशेषता यह है कि वह अर्थोत्पति की प्रक्रिया को स्वरूप

की दृष्टि से तत्त्वत: अस्थिर मानता है। संकेत दो निश्चित पार्श्व रखने वाली ईकाई नहीं है, वर्न् यह दो गतिधर्मी पार्श्वों में क्षणिक मैत्री है। यद्यपि सास्युअर ने स्वीकार किया था कि संकेतक एवं अर्थ दो अलग-अलग तंत्र हैं किंतु वह इस बात पर विचार नहीं कर सका कि दो तंत्र परस्पर संश्लेषित होते हैं तो अर्थ का एकत्व अस्थिर हो जाता है। भाषा को एक विषद भाषिक तंत्र घोषित करने के अनंतर जो बाह्य यथार्थ से स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। यद्यपि उसने संकेत को संश्लिष्ट रखने का प्रयास किया, किंतु उसके दो हिस्से मानकर उसने उसकी संगति को शून्य हो जाने का मार्ग भी खुला छोड़ दिया।

प्रश्न उठता है कि संकेत के अद्वितीयत्व की पुष्टि क्या उस समय होती है जब हम शब्द कोष में किसी शब्द के अर्थ को देखते हैं। सच यह है कि शब्दकोष संकेत के अद्वितीयत्व की पुष्टि नहीं करता, वरन उसके उलटे अर्थ के भेद की पुष्टि करता है। ज्यों-ज्यों किसी शब्द की परिभाषा स्थापित करने की प्रक्रिया में आगे बढ़ते हैं त्यों-त्यों दूसरे शब्दों का सहारा लेना पड़ता है। प्रत्येक शब्द के लिए दूसरे शब्द, दूसरे शब्द के लिए दूसरा और हर शब्द अपने अर्थ के लिए दूसरे शब्द का मुखापेक्षी है। यह एक अंतहीन क्रम है जो निरंतर वर्तन में रहता है। अर्थात् शब्द एवं अर्थ का एकत्व तार्किक रूप से कभी सिद्ध नहीं हो सकता। सास्युअर के भाषादर्शन में संकेत समुच्चय है। संकेतक एक संकेतित का और ये दोनों मिल कर ईकाई रूप में क्रियाशील होते हैं। उत्तर संरचनावाद ने इस एक्य का टाँका खोल दिया—अर्थ के ऐकिक एवं निर्धारित होने का रहासहा आधार भी लुप्त हो गया। स्पष्टत: उत्तर संरचनावाद का झुकाव सृजनात्मकता एवं अर्थबाहुल्य पर था।

भाषा कोई अरंजित पारदर्शी माध्यम नहीं है अपितु स्वयं अवधारणा है। जिसके अंदर हम यथार्थता को नहीं, बल्कि यर्थाथता की संकल्पना को देखते हैं। वार्थ का कहना है कि एक साहित्यिक का सबसे बड़ा अपराध यह है कि वह यह कहकर पाठक को पथभ्रष्ट करे कि भाषा कोई साफ, सुथरी पारदर्श माध्यम है जिसके द्वारा सच्चाई या यर्थाथ को देखा जा सकता है। कोई भी कृति सैकेंड ऑर्डर सिस्टम है न कि फस्ट ऑर्डर सिस्टम। वार्थ ने *डेथ ऑफ द ऑथर* में लिखा—

> *"साहित्य लिखता है, साहित्यकार नहीं। तात्पर्य यह भी है कि साहित्य शून्य में जन्म नहीं लेता। यदि लेखन का पहले से अस्तित्व न हो तो कोई कृति या कृतिकार लिख ही नहीं सकता। प्रत्येक कलाकृति मात्र परिवर्धन है। कृतिकार जिस संस्कृति, जिस भाषा, जिस परंपरा से पोषित है, वह लाख विद्रोह और विमुखता दिखाए लिखेगा उसी परंपरा और काव्य शास्त्र की परिधि में। कई कलाकृति अपने सांस्कृतिक तंत्र से बाहर न लिखी जा सकती है न समझी"।*

उत्तर-संरचनावाद विशिष्ट साहित्यिक अभिव्यक्ति को साहित्यिक अभिव्यक्ति के संपूर्ण तंत्र के अधीन करके कलाकृति और कृतिकार दोनों को आनुशांगिक हैसियत देता है। उनकी खोज उस तंत्र की है जिसके आलोक में कलाकृति रची गई है। तथा जिस तंत्र के अधीन वह पढ़ी और

समझी जाएगी। उत्तर संरचनावादियों के अनुसार साहित्यिक अभिव्यक्ति (पाठ) पहले से लिखे हुए तंत्र के आलोक में गठित है।

समसामयिक थ्योरी का केंद्रीय वादानुवाद वही है जो दर्शन का महत्त्वपूर्ण विषय रहा है, यानी मानव क्या है, या मानव चेतना क्या है। नए दर्शन उसके लिए ह्यूमन सब्जेक्ट व्यक्ति एवं सब्जेक्टिविटी व्यक्तिपरकता के पदसंबंध का प्रयोग करते हैं। सब्जेक्ट-उसे पूर्व के अध्यात्मिक, सामाजिक, वंशगत, यौनपरक, बौद्धिक अथवा संवेगात्मक पूर्वकल्पित अवधारणा से मुक्त करके देखता है। देकार्त 16वीं शताब्दी में कह चुका था—"मैं हूँ क्योंकि मैं सोचता हूँ"। कार्टीसीयर्ड परंपरा में मनुष्य की पहचान चेतनाधृत थी, अर्थात चेतना केंद्र की मानव संकल्पना का, किंतु 20वीं के आते-आते यह स्पष्ट हो गया कि चेतना निसर्गत: अस्तित्व नहीं रखती, मैं निर्मिति मात्र है विमर्श की और जो वस्तु स्वयं निर्मित है अर्थात केंद्रहीन है वह मानवीय संकल्पना का केंद्र कैसे हो सकता है। (Human subject) व्यक्ति के मात्र निर्मित सिद्ध होने से अर्थ के ऐच्छिक होने का आधार स्वत: डगमग हो गया, क्योंकि यदि निज रूप अडिग अस्मिता से रिक्त है और स्वरूप की दृष्टि से अस्थिर एवं परिवर्तनोन्मुख, तो वह अर्थ का सत्ता संस्थान कैसे हो सकता है।

इस परिवर्तन में कार्ल मार्क्स, सिगमंड फ्रायड और एडम हुर्सल तीनों ही दार्शनिकों का अपने-अपने तरीके से योगदान है। मार्क्स ने यह समझने का प्रयास किया कि प्रदत्त ऐतिहासिक स्थितियाँ जिन्हें पूर्णतया समझने में भी मनुष्य समर्थ नहीं होता उनके आधार पर किस प्रकार वह अपना सामाजिक विश्व निर्मित कर लेता है। और मनुष्य उस प्रवंचना का शिकार होता है जो उसने दे रखा है। इस दृष्टि से मार्क्स का विचार फ्रायड का पूर्वगामी है। फ्रायड ने भी यह माना कि मानव अपनी प्रवंचनाओं के अनुसार और उनके बल पर जीता है। लकां के अनुसार *'द ओबवियस हैज मेड अस ब्लाइंड'*। हमें जो ज्ञात है उसने हमारी ऑखों पर पट्टी बाँध रखी है। जिसे हम परिचित यथार्थ कहते हैं उसने हम से यर्थाथ को परखने की सामर्थ्य छीन ली है। हमारी विचार-शक्ति को निष्प्राण कर दिया है।

मानवीय संकल्पना की कार्टिसियाई परंपरा जो प्रत्ययवाद पर आधृत था, उसका प्रथम निरूपण मार्क्स और फ्रायड के यहाँ मिलता है। लंका के अनुसार फ्रायड की मूल अंतर्दृष्टि यह नहीं थी कि अवचेतन अस्तित्व रखता है, बल्कि यह कि अवचेतन संरचना रखता है और यह संरचना हमारे कर्मो एवं कृतियों को इस सीमा तक और इस ढंग से प्रभावित करता है कि उसका विश्लेषण किया जा सकता है। न केवल फ्रायडोत्तर भाष्यकारों ने अवचेतन के संदेश के प्राबल्य को कम करके प्रस्तुत किया, अपितु अवचेतन के अनुसंधान एवं उसकी प्रक्रिया की अपरिमित स्थितियाँ उत्पन्न करने वाली संरचना इस कदर भयावह थीं कि स्वयं फ्रायड पौराणिक एवं पराभौतिक चिंतन के निरापद विश्व में शरण लेने पर विवश हो गया।

लकां ने इगो की स्वायत्तता को तहस-नहस करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। माननीय

चित्त के बारे में फ्रायड के अन्वेषण इस कदर स्तब्धकारी थे कि उन्हें अनंतर अप्रीतिकर समझ कर दबा दिया गया। इड अवचेतन का विक्षुब्ध संवेग है जो इगो की सत्ता एवं स्थिरता को वंचित करने की घात में रहता है। उसके अनुसार इगो भाषा के प्रतीकात्मक तंत्र में अवस्थित है। यह एक काल्पनिक निर्मिति है, मानव समझता है यह किसी दृढ़ अस्मिता का आधार है, जबकि ऐसा नहीं है। इस प्रकार व्यक्ति के मात्र निर्मित होने से अर्थ के ऐकिक होने का आधार स्वतः डगमग हो जाता है।

लकां के आधार पर अल्थूसर ने लिखा—

"जब मानव/व्यक्ति स्वयं स्वायत्त या आत्मनिर्भर नहीं तो अर्थ के निर्धारण एवं वरण का सकेंन्द्र स्वतः ध्वस्त हो जाता है। उसके अनुसार मनुष्य स्वयं विभिन्न विचारधारात्मक माध्यमों जैसे —परिवार, धर्म, संस्कृति, शिक्षा, मीडिया, कला एवं साहित्य आदि से मानसिक निर्मिति के रूप में समाहृत होता है। किंतु उसे विश्वास दिलाया जाता है कि वह स्वतंत्र कर्त्ता है। दूसरे अर्थों में उसे पैदा किया जाता है ताकि वह यह प्रभाव दे कि वह किसी की पैदावार नहीं। यद्यपि मनुष्य की कोई स्वाधीनता इस के अतिरिक्त नहीं कि वह अपने दासत्व को बिना चूँ-चपड़ के स्वीकार कर ले। ऐसी स्थिति में वह सारा जीवंत अनुभव, जिसे मनुष्य झेलता हैं और जिसमें जीने के लिए वह विवश है, यानी अपने जैविक शरीर के अतिरिक्त मनुष्य जो भी है वह उसकी विचारधारात्मक स्थिति है। क्या इसे ही प्राच्य विद्या में 'माया' कहा जाता है? अर्थात् मनुष्य स्वतंत्र कर्त्ता नहीं अपितु प्रवंचना के बल पर जीता है। और जिस चीज को सहज बुद्धि कहते हैं वह वस्तुतः हमारी प्रवंचनाओं का अवगुंठन है"।

हुर्सल ने कहा था, *"The familiar concepts are the problems not the solution"*। अस्तित्ववादियों के अनुसार मनुष्य की स्थिति जो भी हो उसे इस मूल प्रश्न का सामना करना पड़ता है कि वह क्या है, वह कौन है। अस्तित्ववादियों के अनुसार निर्णय के दायित्व का बोध नहीं रखना एक प्रकार की दुरास्था या जालीपन है। निज के अस्तिव की प्रमाणिकता इसमें है कि मनुष्य साहसपूर्ण निर्णय के उत्तरदायित्व का सामना करे। क्योंकि अस्तित्व का प्रश्न एक खुला प्रश्न है और उसके उत्तर पर ही मनुष्य की विश्वसनीयता निर्भर है।

मानव व्यक्ति का अपकेंद्रण सकल नव्य दर्शनों की आधारित समस्या है। 20वीं सदी के कथा साहित्य में चाहे ज्वायस हो या काफ्का, सबसे बड़ा संकट पहचान का संकट है। अब शायद ही कोई उदारवादी मानववाद की खुशफहमियों को संदेह से न देखता हो, समय इन प्रवंचनाओं से आगे निकल गया है। गत अर्धशती में मानव विचरण की विकास गाथा इस दु:ख भरे स्वीकार की कथा है। वह इलीयट का *वेस्टलैंड* हो या बेकेट का *वेटिंग फॉर गोड* अलबता प्रश्न यह है कि माननीय परंपरा के ध्वंसावशेषों पर खड़ा मनुष्य क्या कर सकता है। धर्म/दर्शन, पूर्व/पश्चिम, नारीवाद इनमें इसे तलाश किया जा रहा है। डेकार्त और कांट के विपरीत

आत्मसंज्ञान का आधार अस्ति पर नहीं वरन् आत्मसंज्ञान के नकार पर है। इससे क्या प्राच्य परंपरा से मेल खाती है जहाँ वैयक्तिक चेतना एक प्रवाहमान समष्टिगत चेतना में समाविष्ट होकर उसके अंग होने में ही उसका अर्थ देखता है? देरिदा ने भाषा के लाक्षणिक स्वरूप पर अपनी निर्मम शल्यक्रिया से सिद्ध किया है कि परंपरा ने जो अर्थ निर्धारित कर दिए हैं, अर्थ मात्र उतना ही नहीं। ज्ञान और शक्ति के खेल में जो अर्थ दब गए हैं अथवा दबा दिए गए हैं, देरिदा ने उन्हें खोलने का यत्न किया है और उन पर ध्यान सकेंद्रित किया है। उसकी सारी बातों का निष्कर्ष यह है कि भाषा की शब्द-केंद्रत्व से मुक्ति संभव नहीं है। यह अंतर्विरोधों से परिपूर्ण है। स्वयं विरचनावादी अध्ययन भाषा का सहारा लेता है और भाषा शब्द-केंद्रत्व से बच नहीं सकती। इसलिए उसके विश्लेषण जैसे दूसरे पाठों को विरचित करते हैं, वैसे ही स्वयं को भी विचरित कर सकते हैं। अतएव अर्थ की केंद्रहीनता को प्रकट कर देरिदा ने अर्थ की अनिश्चयात्मकता के जो द्वार खोले हैं उन्हें दर्शन और साहित्य में बंद करना सरल नहीं हैं।